04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 43

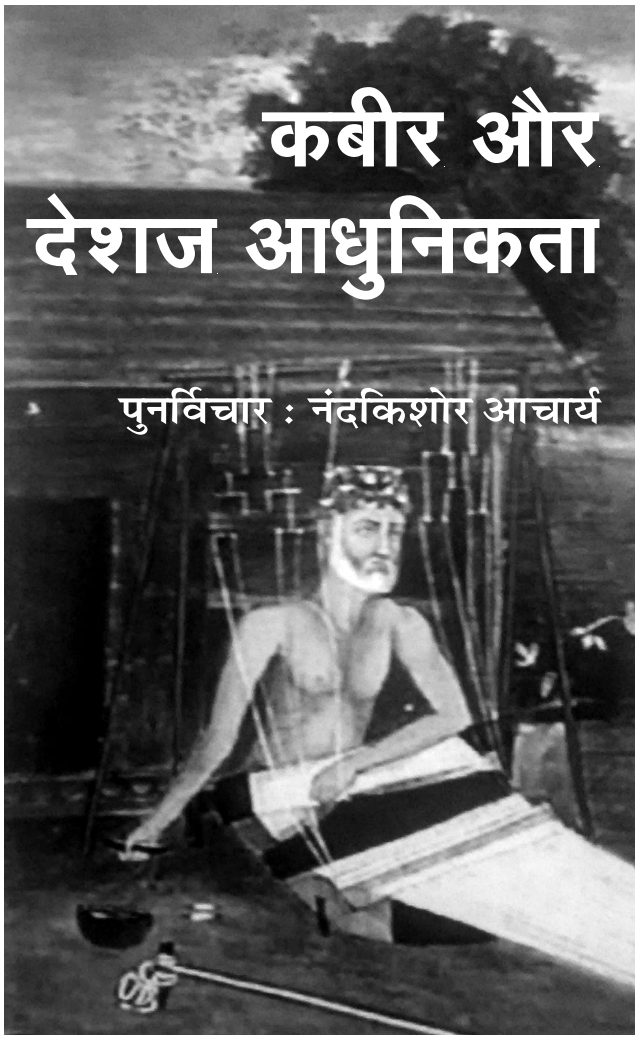

पुरुषोत्तम अग्रवाल की बहुचर्चित कृति *अकथ कहानी प्रेम की* केवल कबीर और उनकी कविता मात्र के प्रति उनके प्रेम की अकथ कहानी नहीं है, वह भारतीय परम्परा में गहरे पैठने और उसे अपने या कहें तो अपने समय के लिए पुन: अर्जित करने की उनकी कोशिश की भी कहानी है। यही कारण है कि पुरुषोत्तम अपने इस अध्ययन के माध्यम से कबीर के कवि को समझने का प्रयास करने के साथ-साथ ही कबीर को उस संवेदना की अभिव्यक्ति— कुछ हद तक निर्मिति— के रूप और माध्यम के प्रतीक-व्यक्तित्व की तरह भी समझना चाहते हैं, ताकि वे इसके ज़रिये हमारे गतिशील आत्म का साक्षात्कार भी कर सकें। इसके चलते ही वे न केवल कबीर के समय और उनकी कविता के रिश्ते को समझने का श्रम करते हैं, बल्कि हमारे अपने समय के कबीर के रिश्ते को भी पहचानने और पहचान की इस प्रक्रिया में अपने समय की उलझनों से भी रूबरू होते हैं। इस समग्र प्रक्रिया को यह किताब मोटे तौर पर यद्यपि औपचारिक तौर पर नहीं— दो तरह की कोशिश में बाँट कर देखती है। और, ये दोनों प्रकार विपरीतधर्मी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक होकर अंत में एक आवयविक संहति हो जाते हैं।

04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 44

पहली कोशिश है कबीर के जीवन और साधना से जुड़ी सारी बहसों पर विचार करते हुए कुछ नयी स्थापनाएँ करते हैं, जो इस पुस्तक को कबीर के अन्य अध्ययनों से अधिक महत्त्वपूर्ण बनाती है और कबीर को ही नहीं, पूरे कथित 'मध्यकालीन काव्य' और सामाजिक गतिशीलता को समझने में हमारी बड़ी मदद कर सकती है। ऐसी ही एक स्थापना है 'देशज आधुनिकता' की। देशज आधुनिकता या भारतीय आधुनिकता का ज़िक्र पुरुषोत्तम से पूर्व अज्ञेय और उनके परवर्ती अन्य कई लेखकों-विचारकों द्वारा भी किया जाता रहा है। लेकिन, यह ज़िक्र अधिकांशत: ऐतिहासिक दृष्टि से अठारहवीं से बीसवीं शताब्दी के कालखण्ड में विकसित आधुनिकता की भारतीय और पश्चिमी अवधारणाओं तक ही सीमित रहा है, जबकि पुरुषोत्तम अपनी इस स्थापना को कबीर के समय तक ले जाते और उसकी पृष्ठभूमि में कथित 'मध्यकाल' में भारत में व्यापारिक पूँजीवाद और दस्तकारी के विकास को देखते हैं। ऐतिहासिक तथ्यात्मकता की दृष्टि से भी यह बिल्कुल प्रामाणिक है और कम-अज-कम पचास वर्ष पूर्व से तो मैं स्वयं, इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते, इससे पूर्ण परिचित रहा हूँ। ज़ाहिर है ये तथ्य इससे भी काफ़ी पहले से इतिहास-लेखन को ज्ञात रहे हैं। यदि हमारे साहित्यालोचन को इसकी जानकारी नहीं थी, तो इसका दोष निश्चय ही इतिहास के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

रामविलासजी ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया तो हिंदी के आलोचक उसकी चर्चा इस प्रकार करने लगे मानो रामविलासजी ने किसी नये ऐतिहासिक तथ्य को खोज निकाला हो। उसे व्यापारिक पूँजीवाद के विकास से जोड़ने की पहल रामविलासजी ने अवश्य की यद्यपि अधिकांश मार्क्सवादी व्यापारिक पूँजीवाद की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते — और पुरुषोत्तम को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उन्होंने उसी में न केवल देशज आधुनिकता के विकास को रेखांकित किया बल्कि कबीर के माध्यम से उसकी सांस्कृतिक संवेदनात्मक निर्मिति में भारतीय परम्परा की पुनर्नवता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया।

लेकिन, यहाँ मेरे मन में कुछ सवाल उठते हैं— पुरुषोत्तम की स्थापना के विरोध में नहीं बल्कि उसे ऐतिहासिक और तात्त्विक छवि से एक और परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए। युरोपीय आधुनिकता की अवधारणा दरअसल, कई सामाजिक कारकों की वजह से भी, युरोपीय 'मध्यकालीनता' के बरअक्स होती है। सवाल यह है कि क्या 'मध्यकालीनता' का यह बोध कहीं परम्परा की गतिशीलता में किसी फाँक की तरह भारत में भी दिखाई देता है। यह सवाल मैंने इस पुस्तक पर जयपुर में आयोजित विचार-गोष्ठी में भी उठाया था। पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका से पता चलता है कि इसी तरह का प्रश्न वागीश शुक्ल ने भी किया है। परम्परा की द्वंद्वात्मक विकास-प्रक्रिया में हमेशा ही एक वर्ग जड़ता की ओर उन्मुख दिखाई दे सकता है, लेकिन उसी विकास-प्रक्रिया को और गति मिलती है क्योंकि, जैसा टॉयन्बी ने कहा है, चुनौतियाँ ही सर्जनात्मकता को प्रेरित करती और उसके लिए अवकाश रचती हैं। इसी के साथ जुड़ा एक सवाल यह भी है कि जिस व्यापारिक पूँजीवाद से आरम्भिक आधुनिकता का उदय पुरुषोत्तम देखते हैं, वह क्या भारतीय समाज के इतिहास में कोई नयी परिघटना है? दैशिक ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के प्रमाण तो कम-से कम बौद्धकाल से ही— वैदिक प्रमाणों को अपवाद मान लेने पर भी— दिखाई देने लगते हैं। बौद्ध जैन ग्रंथों और कहानियों में सामंतों-राजाओं से कहीं अधिक व्यापारियों का उल्लेख है। तो क्या उसे भी व्यापारिक पूँजीवाद का युग कहा जाएगा? उससे भी पूर्व उपनिषदों में भी जो गहरी प्रश्नाकुलता और वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध में मुखरित स्वर मिलते हैं, वे भी क्या एक परम्परा में आ रही जड़ता को तोड़ने की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के ही प्रमाण नहीं हैं? क्या उसे भी परम्परा के पुनर्नवा होने की प्रक्रिया की तरह नहीं समझा जाना चाहिए?

शायद पुरुषोत्तम दसवीं सदी के बाद 'आर्थिक पुनरोदय' देखते हैं और इसीलिए उसे आरम्भिक आधुनिकता की अवधारणा से जोड़ते हैं क्योंकि उनके अनुसार 'हर्ष के बाद की तीन चार सदियाँ

04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 45

गतिरूढ़ अर्थव्यवस्था और व्यापार के पतन की सदियाँ थीं।' क्या सचमुच ऐसा था? हर्ष की मृत्यु 646-47 ई. में मानी जाती है। लेकिन उसके बाद भी हमें उत्तरी और दक्षिणी भारत में बड़े साम्राज्यों के उदय, और उनके आपसी संघर्ष के बावजूद व्यापारिक गतिविधियों में कोई कमी आती नहीं दीखती। दक्षिण भारत में चालुक्यों और पल्लवों के अंतर्गत देशीय और सामूहिक व्यापार के पर्याप्त साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं और इसी प्रकार राष्ट्रकूटों के राज्य में भी उत्तर में पाल और गुर्जर-प्रतिहार प्रदेशों को लेकर भी यही कहा जा सकता है। यही समय मुस्लिम व्यापारियों के भारत आगमन का भी समय है। ज़ाहिर है, इससे व्यापारिक क्रियाशीलता को बढ़ावा ही मिला होगा, जो बाद में कबीर के समय भी दिखाई देती है। विस्तार से बचने के लिए मैं मित्रों को *हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ़ इण्डियन पीपुल* के संदर्भित खण्डों को देखने का आग्रह करता हूँ। दरअसल, हर्ष का साम्राज्य वास्तव में उतना बड़ा नहीं था, जितना सामान्यत: समझा जाता है और उसे उत्तर भारत का अंतिम महान हिंदू राजा कहना तो और भी ग़लत है। इसलिए उसके निधन की तिथि को भारतीय राजनीति और व्यापारिक पतन के आरम्भ की तिथि मान लेना और भी ग़लत है।

पुरुषोत्तम देशज आधुनिकता की बात करते हैं और उसे युरोपीय या औपनिवेशिक आधुनिकता से चारित्रिक तौर पर अलग दिखाना चाहते हैं तो वह आधुनिकता को भी एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया की तरह न देखकर उसे एक विशिष्ट प्रकार के 'आर्थिक पुनरोदय' और एक विशिष्ट कालखण्ड की आर्थिक परिस्थिति की उपज क्यों मानने लगते हैं? जब वह मानते हैं कि देशज आधुनिकता युरो-केंद्रित आधुनिकता से अलग है तो उन्हें आधुनिकता को उन्हीं लक्षणों से परिभाषित-व्याख्यायित करने की ज़रूरत क्यों पेश आती है, जिनसे युरो-आधुनिकता अपने को व्याख्यायित करती है।

इसी तरह, एक सवाल यह भी बनता है कि जब पुरुषोत्तम देशज आधुनिकता की बात करते हैं और उसे युरोपीय या औपनिवेशिक आधुनिकता से चारित्रिक तौर पर अलग दिखाना चाहते हैं तो वह आधुनिकता को भी एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया की तरह न देखकर उसे एक विशिष्ट प्रकार के 'आर्थिक पुनरोदय' और एक विशिष्ट कालखण्ड की आर्थिक परिस्थिति की उपज क्यों मानने लगते हैं? जब वह मानते हैं कि देशज आधुनिकता युरो-केंद्रित आधुनिकता से अलग है तो उन्हें आधुनिकता को उन्हीं लक्षणों से परिभाषित-व्याख्यायित करने की ज़रूरत क्यों पेश आती है, जिनसे युरो-आधुनिकता अपने को व्याख्यायित करती है। मुझे याद पड़ता है कि जयपुर-गोष्ठी में भी यह सवाल मैंने उठाया था। मेरी तुच्छ समझ में ऐतिहासिक कारकों से परम्परा में आने वाली जड़ता और उसके कारण वैयक्तिक-सामाजिक आचरण में मानव-मूल्यों की अवज्ञा तथा उससे उत्पन्न किसी भी प्रकार के अन्याय को प्रश्नांकित करना तथा उसे मिटाने और न्याय को पुन: स्थापित करने की अनथक कोशिश ही वास्तविक अर्थों में आधुनिकता की परिभाषा हो सकती है। इसीलिए, उपनिषद और बुद्ध भी आधुनिक हैं तथा कबीर और गाँधी भी। दरअसल, जैसा लिविंगस्टोन ने कहीं कहा है कि आधुनिकता तिथि का नहीं दृष्टिकोण का सवाल है— 'मॉडर्निटी इज़ नॉट अ क्वेश्चन ऑफ़ डेट, बट ऑफ़ आउटलुक।' और इस दृष्टिकोण के विकास को किसी आर्थिक प्रक्रिया से जोड़कर देखना उसे कुछ संकुचित — बल्कि एकायामी — कर देना होगा क्योंकि तब आधुनिकता को आरम्भिक या वृद्ध पूँजीवाद से जुड़ी अवधारणा के रूप में स्वीकार कर लेना होगा। इसीलिए शायद कई विचारक वृद्ध या उत्तर-पूँजीवाद के सांस्कृतिक रूप की तरह उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा को व्याख्यायित करते हैं।

कबीर की रचनाओं की प्रामाणिकता के सवाल पर विचार करते हुए भी पुरुषोत्तम एक नयी स्थापना रखते हैं और उसके आधार पर प्रामाणिकता के सवाल को हल करना चाहते हैं। उनकी यह स्थापना क़ाबिले-ग़ौर है कि पाठ-निर्धारण की उन विधियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जो कबीर

04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 46

के अपने समाज ने, उनकी अपनी परम्परा ने अपनाई। जिन रचनाओं को समाज ने कबीर की रचनाओं की तरह इस आधार पर स्वीकार कर लिया है कि उनमें कबीर से वैचारिक सुसंगति दिखाई देती है, उन्हें पुरुषोत्तम कबीर की 'उप-रचना' की तरह स्वीकार कर लेने का आग्रह करते हैं। यह एक विवादास्पद प्रस्ताव अवश्य है क्योंकि तब एक व्यक्ति-कवि के रूप में कबीर के काव्य-कौशल का मूल्यांकन सही तौर पर नहीं हो पाएगा, उनकी विचार परम्परा की निरंतरता का अध्ययन इस आधार पर अवश्य किया जा सकता है। दरअसल, इन्हें कबीर की उप-रचना के बजाय अनुरचना की तरह पढ़ा जाना चाहिए। आख़िर *महाभारत* जैसे ग्रंथ में भी बहुत-कुछ जुड़ता चला गया है और पंडित-जन के आग्रहों के बावजूद लोक-मानस उन्हें *महाभारत* से अलग करके नहीं देखता। कबीर की अनुरचनाओं को भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

कबीर के जन्म से जुड़ी घटनाओं या किंवदंतियों के आधार पर उनके काव्य की व्याख्या और मूल्यांकन के प्रयास को लेखक एक नस्लवादी प्रयास मानते हैं। कोई रचनाकार किस जाति या समुदाय का है, इसे उसके रचना-कर्म की आधार-भूमि की तरह देखना उस रचना-कर्म को हेठा करना है। कोई भी रचनाकार अपने समय में ही नहीं, पूर्व परम्परा में भी प्रचलित सभी प्रकार के विचारों-विश्वासों से अंत:क्रिया करता ही है, जिसके प्रमाण उसकी रचनाओं के संवेदनात्मक अध्ययन से मिल सकते हैं। लेकिन, वह किसी विश्वास या विचार का अनुकर्ता होकर नहीं रह जाता। उन सभी प्रभावों से अंत:क्रिया करते हुए वह अपना मार्ग तलाश करता है। 'मार्गी' पद का वास्तविक आशय भी यही है। आख़िर कई ऐसी रचनाएँ भी न केवल मिलतीं, बल्कि समाज में लोकप्रिय भी होती हैं, जिनके लेखक या समय के बारे में कहीं कोई जानकारी नहीं मिलती- किंवदंती ही नहीं— कवि भी, उन रचनाओं के साहित्यिक-सांस्कृतिक महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता और न सामाजिक चिंता की निर्मिति में उनके योगदान से ही।

कवि के अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और काव्य की अपनी स्वायत्त प्रक्रिया को उचित महत्त्व देने के कारण ही पुरुषोत्तम न केवल कबीर बल्कि सम्पूर्ण भक्ति-काव्य को सगुण-निर्गुण के विवाद से निकाल कर शास्त्रोक्त और काव्योक्त भक्ति के आधार पर समझने का मौलिक प्रयास करते हैं। निश्चय ही कबीर में शास्त्र प्रभाव की तलाश की जा सकती है, की भी गयी है, लेकिन उनके काव्य की प्रभावोत्पादकता और लोक-स्वीकृति का मर्म अपनी कविता को एक स्वायत्त साधना-प्रक्रिया का रूप देने में है, किसी शास्त्र या सम्प्रदाय के विश्वासों-प्रक्रियाओं का अनुकर्ता बना देने में नहीं। अपने को नारी रूप में देखना प्रारम्भिक शक्ति प्रभाव के कारण भी हो सकता है और वैष्णव प्रभाव की वजह से भी लेकिन जब कबीर अपने को नारीरूप में देखते हैं तो जिस प्रेमानुभूति की व्यंजना करते हैं, वह निश्चय ही 'रामभावना, काम-भावना और सामाजिक भावना' की संवेदनात्मक या अनुभूत्यात्मक रूपात्मक प्रक्रिया हो जाती है। इसीलिए, कबीर की भक्ति धर्म का अनुकरण नहीं करती बल्कि धर्म भाव उनकी भक्ति और समर्पण भाव से उपजता लगता है।

पुरुषोत्तम ठीक कहते हैं कि कबीर के यहाँ भक्ति उपासना पद्धति से कुछ अधिक हो जाती है। इस प्रक्रिया को वह केवल नामदेव और कबीर में ही नहीं मीरा, सूरदास और तुलसीदास तक में भक्ति को 'उपासना— पद्धति के स्थान पर काव्य और जीवन की संवेदना बन जाते हुए पाते हैं। उनका यह तर्क भी सुसंगत लगता है कि 'संवेदना-भक्ति' की इस प्रधानता के कारण कबीर और तुलसी दोनों ही 'भक्त कवि' कहलाते हैं, जबकि 'भक्ति संवेदना' से परिभाषित न होने के कारण ही आदिकाल और रीतिकाल के कवि 'भक्त' नहीं कहलाते। नारदीय भक्ति में कबीर इसीलिए मगन होते हैं कि वह उन्हें किसी उपासना-पद्धति में नहीं बाँधती, बल्कि उलटे उससे मुक्त करती हुई 'प्रेम के आत्मानुभाव को अलौकिक में बदलने की सम्भावना' के द्वार खोलने की प्रक्रिया बन जाती है। नारदीय भक्ति शास्त्रोक्त प्रक्रिया पर नहीं जीवानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति में रूपांतरित करने की प्रक्रिया पर बल देती है और कबीर इसी को काव्यानुभूतिगत

04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 47

सत्य को पाने की प्रक्रिया में बदल देते हैं। इसीलिए उनकी कविता शास्त्रोक्त सत्य नहीं, संवेदनात्मक सत्य का मूर्त्त रूप हो जाती है। इसे पुरुषोत्तम ने धर्मेत्तर आध्यात्मिकता कहा है। अज्ञेय इसे मानव-केंद्रित आध्यात्मिकता कहते हैं। लेकिन, तब हमें कबीर की कविता को ज्ञान-परम्परा और भक्ति-परम्परा दोनों ओर से देखना होगा। पुरुषोत्तम भी इसे न पहचानते हैं ऐसा नहीं है। जब वह कबीर के नारी-विमर्श की बात करते हैं तो उनके नारी-संवेदना की भरपूर प्रशंसा के बावजूद इससे इनकार नहीं कर पाते कि नारी निंदा की उनकी उक्तियाँ कबीर की काव्य-संवेदना की फाँक को स्पष्ट दर्शाती हैं और यह भी कि 'साधना के पल को स्त्रीत्व की दृष्टि से रचने वाले कबीर समाज के सच को स्त्री की दृष्टि से नहीं देख पाते। हम इसे किसी कवि में शास्त्रोक्त और काव्योक्त के द्वंद्व की तरह भी पढ़ सकते हैं और शायद यह भी मान सकते हैं कि 'चुनौती 'डिफेंड' या 'क्रिटिसाइज़' करने में नहीं, कबीर की प्रेम-धारणा की सम्भावनाओं और समस्याओं को खोलने में हैं। लेकिन, तब तुलसी को कबीर के बरअक्स खड़ा होने की ज़रूरत क्यों पेश आनी चाहिए? क्या तुलसी में भी शास्त्रोक्त और काव्योक्त का भाव द्वंद्व नहीं दिखाई देता? 'ढोल गँवार शुद्र पशु नारी' को ताड़न का अधिकारी मानना शास्त्रोक्त तुलसी हैं तो 'कित विधि सृजी नारी जग माँ ही पराधीन सपने सुख नाहीं' कहते हुए वही तुलसी मानो नारीवाद का बीजारोपण ही कर सकते हैं। कलियुग-वर्णन जहाँ शास्त्रोक्त धर्म का आख्यान करता है तो 'परहित सरस धर्म नहीं भाई। परपीड़ा सम नहीं 'अधमाई' में धर्म की वह अनुभूति व्यंजित होती है जो सभी नियामकताओं का अतिक्रमण कर जाती है।

लेकिन कबीर की नारी-संवेदना या स्त्रीत्व धारण करना एक और सवाल भी उठाता है। आख़िर कबीर को स्वयं को स्त्रीरूप में देखना क्यों प्रिय लगता है। यह कहना तो निश्चय ही सम्पूर्ण सूफ़ी कथ्यानुभूति को हेठा बताना होगा कि केवल स्त्री ही विरह और समर्पण भाव का मूर्त रूप हो सकती है। सूफ़ी साधना के बारे में भी यह एक भ्रामक विचार न जाने क्यों प्रचलित है कि वहाँ सदैव परमात्मा को स्त्री रूप में और साधक को पुरुष रूप में देखा गया है। 'माशूक़' शब्द तो व्याकरण के अनुसार पुलिंग है ही— पर वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। सवाल यह है कि क्या स्त्री सूफ़ी साधक भी परमात्मा को स्त्रीरूप में देखते हैं। क्या उनकी साधना इसलिए अधूरी रह जाएगी कि वे परमात्मा को स्त्री रूप में नहीं देख पाती? यह सवाल मीरा, महादेवी अक्का और आंजाल को लेकर ही नहीं, राबिया और ललद्यद को लेकर भी उठाया जा सकता है, जो सूफ़ी साधिकाएँ मानी गयी हैं।

> जिस व्यापारिक पूँजीवाद से आरम्भिक आधुनिकता का उदय पुरुषोत्तम देखते हैं, वह क्या भारतीय समाज के इतिहास में कोई नयी परिघटना है? दैशिक ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के प्रमाण तो कम-से कम बौद्धकाल से ही— वैदिक प्रमाणों को अपवाद मान लेने पर भी— दिखाई देने लगते हैं। बौद्ध जैन ग्रंथों और कहानियों में सामंतों-राजाओं से कहीं अधिक व्यापारियों का उल्लेख है। तो क्या उसे भी व्यापारिक पूँजीवाद का युग कहा जाएगा?

एक सम्भावित उत्तर की तरह यह सवाल मैंने किताब पर जयपुर में हुई गोष्ठी में भी उठाया था कि एक पुरुष को स्वयं नारीरूप में देखने की यह मंशा कहीं इस ग्रंथि की ओर तो संकेत नहीं करती कि नारी से श्रेष्ठ होने के कारण समर्पण तो पुरुष के प्रति ही होना चाहिए। और इसीलिए नारी को नरक का द्वार मानने वाला पुरुष 'परम पुरुषत्व के विरह में व्याकुल नारी की तरह ही अपनी वेदना और समर्पण के लिए आकुलता को व्यंजित कर सकता है— अन्यथा जहाँ तक विरह-वेदना की तीव्रता और समर्पण के लिए आकुलता की मात्रा का सवाल है, वह मजनूँ, फ़रहाद आदि पुरुष आशिकों में भी किसी तौर पर कमतर नहीं है! नारी में केवल समर्पण भाव देखना और उसे अपने में जगाते हुए भी उसकी सामाजिक स्थिति से उत्पन्न पीड़ा की अनदेखी में चाहे 'रामभाव और कामभाव' का मिलन होते हो, पर 'समाज भाव' तो अलग ही खड़ा मिलता है। ऐसा

04_nandkishor:Layout 1 7/25/2016 2:26 PM Page 48

नहीं है कि पुरुषोत्तम इस ओर सजग नहीं है, पर थोड़ा दबे सुरों में और न चाहते हुए भी 'शाश्वत स्त्रीत्व' के तर्क से उसे 'डिफेंड' करते हुए।

पुरुषोत्तम का यह कहना तो सुसंगत है कि कबीर सभी शास्त्रोक्त धर्मों के घेरे का न केवल अपनी प्रेमानुभूति से अतिक्रमण कर जाते हैं, बल्कि स्वयं भी किसी नये धर्म का प्रस्ताव नहीं करते— चाहे अनंतर उनके नाम से कोई पंथ क्यों न चला दिया गया हो। लेकिन, जब कबीर स्वयं प्रेमानुभूति के अन्य रूपों प्रक्रियाओं से जिरह करते दिखाई देते हैं तो वह जिरह काव्योक्ति कम ज्ञानोक्ति अधिक जान पड़ती है और इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उस जिरह में असहिष्णुता ही स्पष्ट व्यंजित होने लगती है। शायद मुक्तिबोध ने इसी ओर लक्षित करते हुए लिखा होगा कि 'कबीर जब तक अपने रंग में मस्त होकर जीवन का राग सुनाता है, तभी तक वह कलाकार है। पर जब वह हमें अपने बौद्धिक-दार्शनिक निर्गुणवाद के प्रति आस्था रखने के लिए आग्रह करता-सा दीख पड़ता है, वहीं वह कला का दृष्टिकोण छोड़कर दार्शनिक दृष्टिकोण के क्षेत्र में उत्तर आता है, जिस के अलग नियम हैं और मूल्यांकन के अलग स्टैण्डर्ड है।' लेकिन, सवाल यह भी है कि असहिष्णुता क्यों! पुरुषोत्तम स्वयं मीरा, सूर और तुलसी की काव्योक्त भक्ति के प्रति आश्वस्त हैं। अन्य धर्मों को केवल उपासना पद्धतियों तक सीमित मान लेना क्या उचित है? क्या वे पद्धतियाँ भी किसी परम सत्ता या सत्य के प्रति समर्पण की भावना की हो व्यंजना नहीं हैं? पाखण्ड तो किसी भी प्रक्रिया या पद्धति में पनप सकता है— वहीं तो परम्परा में आ गयी जड़ता है पर इस कारण पद्धति या प्रक्रिया मंत्र को पाखण्ड मान लेना उचित नहीं होगा। कभी-कभी मुझे कबीर और रामकृष्ण परमहंस को साथ-साथ रखकर देखने की इच्छा होती है क्योंकि परमहंस ने सभी प्रमुख उपासना-पद्धतियों की साधना की और अंतत: घोषित किया कि सभी रास्ते एक ही मंजिल तक पहुँचाते हैं 'धर्मेत्तर' यहाँ 'धर्मोत्तर' हो जाता है। भक्ति के अपने दौर में नामदेव विट्ठल के भक्त हैं। वाराकरी पंथ सगुण या मूर्तिपूजक है। बसवेश्वर तो लौकिक जीवन ही नहीं, ऐंद्रिक तुष्टि को भी साधना में बाधक नहीं मानते। महानुभाव पंथ मूर्तिपूजा में विश्वास न रखते हुए भी द्वाराक्ती और माहुर के श्रीकृष्ण में आस्था रखता है। चैतन्य नामजय में विश्वास करते हैं। उल्लेखनीय यह है कि ये सभी जातिगत ऊँच-नीच, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों का विरोध करते और मानव-मात्र की समानता का संदेश देते हैं। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि प्रेमानुभूति का केवल एक ही रूप हो सकता है। इसीलिए, अन्य रूपों के प्रति जब कबीर कुछ असहिष्णु होते प्रतीत होते हैं तो वह कुछ-कुछ 'पोलेमिकल' हो जाते हैं।

लेकिन, पुरुषोत्तम के इस श्रम की सर्वाधिक सार्थकता इस बात में है कि वह कबीर की प्रेमानुभूति का गहन विवेचन करते हैं और उस प्रक्रिया में पाठक को भी ले जाते हैं जो इस प्रेमानुभूति और काव्यानुभूति में फ़र्क़ नहीं रहने देती। कबीर और अनेक भक्त कवियों की प्रेमानुभूति की भावात्मक व्याख्या आचार्य रजनीश ने भी अपने प्रवचनों में की है। लेकिन वह प्रभाववादी पद्धति से की गयी है, जबकि पुरुषोत्तम कबीर-काव्य की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए एक ओर उसे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति से जोड़कर देखते हैं तो, साथ ही, उसके स्वायत्त काव्योक्त स्वरूप को भी उद्घाटित करते हैं। उनकी इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में भी है कि वह कबीर को दार्शनिक-धार्मिक समुदायों के झमेले से मुक्त करते हैं और उन्हें एक शुद्ध कवि के रूप में स्थापित करते हुए न केवल यह सिद्ध कर देते हैं कि वास्तविक कविता दर्शन की ग़रीब बिरादर नहीं होती, बल्कि यह भी कि कविता स्वयं सत्य की साधना की एक स्वायत्त प्रक्रिया होती है।

और इसके लिए पुरुषोत्तम केवल कबीर प्रेमियों के ही नहीं, कविता-मात्र के प्रेमियों और कवियों के भी धन्यवाद के पात्र हैं। कबीर के अध्ययन के बहाने पुरुषोत्तम भारतीय इतिहास की व्याख्या से जुड़े कई ऐसे महत्त्वपूर्ण सवालों की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनसे इतिहास के अध्येता इन दिनों दो चार हो रहे हैं— पर वह एक अलग विषय है, जिस पर चर्चा का अवकाश इस लेख में नहीं है।